

Chapter तीन

वृन्दावन से बाहर भगवान् की लीलाएँ

उद्धव उवाच

ततः स आगत्य पुरं स्वपित्रो-

श्चिकीर्षया शं बलदेवसंयुतः ।

निपात्य तुङ्गाद्रिपुयूथनाथं

हतं व्यकर्षद्व्यसुमोजसोर्व्याम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

उद्धवः उवाच—श्रीउद्धव ने कहा; ततः—तत्पश्चात्; सः—भगवान्; आगत्य—आकर; पुरम्—मथुरा नगरी में; स्व-पित्रोः—अपने माता पिता की; चिकीर्षया—चाहते हुए; शम्—कुशलता; बलदेव-संयुतः—बलदेव के साथ; निपात्य—नीचे खींचकर; तुङ्गात्—सिंहासन से; रिपु-यूथ-नाथम्—जनता के शत्रुओं के मुखिया को; हतम्—मार डाला; व्यकर्षत्—खींचा; व्यसुम्—मृत; ओजसा—बल से; उर्व्याम्—पृथ्वी पर।

श्री उद्धव ने कहा : तत्पश्चात् भगवान् कृष्ण श्री बलदेव के साथ मथुरा नगरी आये और अपने माता पिता को प्रसन्न करने के लिए जनता के शत्रुओं के अगुवा कंस को उसके सिंहासन से खींच कर अत्यन्त बलपूर्वक भूमि पर घसीटते हुए मार डाला।

तात्पर्य : यहाँ पर कंस की मृत्यु का संक्षिप्त वर्णन हुआ है, क्योंकि ऐसी लीलाएँ दशम स्कन्ध में स्पष्टता से और विस्तार से वर्णित हैं। भगवान् ने सोलह वर्ष की आयु में ही अपने को माता-पिता का योग्य पुत्र सिद्ध किया। दोनों भाई कृष्ण तथा भगवान् बलराम वृन्दावन से मथुरा गये और उन्होंने अपने मामा कंस का वध किया जिसने उनके माता-पिता वसुदेव तथा देवकी को अत्यधिक कष्ट दे रखा था। कंस एक विराट दैत्य था और वसुदेव एवं देवकी ने कभी सोचा भी नहीं था कि कृष्ण तथा बलराम (बलदेव) इतने बड़े तथा बलवान शत्रु का संहार कर सकेंगे। जब दोनों भाइयों ने सिंहासनारूढ़ कंस पर आक्रमण किया, तो उनके माता पिता डर गये कि अब कंस को हमारे उन पुत्रों को मार डालने का अवसर प्राप्त हो जाएगा, जिन्हें हमने इतने दीर्घकाल तक नन्द महाराज के घर में छिपा रखा था। भगवान् के माता-पिता संतति के प्रति स्नेहवश अत्यधिक त्रास का अनुभव कर रहे थे और वे मूर्छित से हो गये थे। उन्हीं को आश्चस्त करने के लिए ही कृष्ण तथा बलराम ने कंस को मारा और उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए ही उसके मृत शरीर को धरती पर घसीटा।

सान्दीपनेः सकृत्प्रोक्तं ब्रह्माधीत्य सविस्तरम् ।
तस्मै प्रादाद्वरं पुत्रं मृतं पञ्चजनोदरात् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सान्दीपनेः—सान्दीपनि मुनि के; सकृत्—केवल एक बार; प्रोक्तम्—कहा गया; ब्रह्म—ज्ञान की विभिन्न शाखाओं समेत सारे वेद; अधीत्य—अध्ययन करके; स-विस्तरम्—विस्तार सहित; तस्मै—उसको; प्रादात्—दिया; वरम्—वरदान; पुत्रम्—उसके पुत्र का; मृतम्—मरे हुए; पञ्च-जन—मृतात्माओं का क्षेत्र; उदरात्—के भीतर से।

भगवान् ने अपने शिक्षक सान्दीपनि मुनि से केवल एक बार सुनकर सारे वेदों को उनकी विभिन्न शाखाओं समेत सीखा और गुरुदक्षिणा के रूप में अपने शिक्षक के मृत पुत्र को यमलोक से वापस लाकर दे दिया।

तात्पर्य : एकमात्र कृष्ण ऐसे हैं, जो अपने गुरु के मुख से एक बार सुन कर ही वैदिक विद्या की समस्त शाखाओं में पारंगत हो सकते हैं। यमराज के क्षेत्र में आत्मा के चले जाने पर कोई व्यक्ति मृत शरीर को जीवित नहीं कर सकता है। किन्तु भगवान् कृष्ण ने यमलोक तक जाने का साहस किया और अपने गुरु के मृतपुत्र को ढूँढा तथा उसे वापस लाकर उनसे प्राप्त शिक्षा के लिए गुरुदक्षिणा के रूप में सौंप दिया। भगवान् स्वभावतः सारे वेदों में सिद्धहस्त हैं, किन्तु सबों के समक्ष यह दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए कि प्रामाणिक गुरु से वेदों का अध्ययन करना चाहिए और सेवा तथा दक्षिणा द्वारा गुरु को प्रसन्न करना चाहिए, उन्होंने स्वयं इस पद्धति को अपनाया। भगवान् ने अपने गुरु सान्दीपनि मुनि की सेवा की और भगवान् की शक्ति को समझ करके ही मुनि ने ऐसी वस्तु माँगी जिसे पूरा कर पाना अन्य किसी के लिए असम्भव था। गुरु ने कहा कि उसका मृत पुत्र लाकर के उसे दिया जाय और भगवान् ने उनके इस आग्रह को पूरा किया। अतएव भगवान् अपने प्रति किसी भी प्रकार की सेवा करने वाले के प्रति कृतघ्न नहीं हैं। भगवान् के वे भक्त जो सदैव उनकी प्रेमाभक्ति में व्यस्त रहते हैं कभी भी भक्ति के प्रगतिशील प्रयाण में निराश नहीं होते।

समाहुता भीष्मककन्यया ये
श्रियः सवर्णेन बुभूषयैषाम् ।
गान्धर्ववृत्त्या मिषतां स्वभागं
जह्ने पदं मूर्ध्नि दधत्सुपर्णः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

समाहुता:—आमंत्रित; भीष्मक—राजा भीष्मक की; कन्यया—पुत्री द्वारा; ये—जो; श्रियः—सम्पत्ति; स-वर्णेन—उसी तरह के क्रम में; बुभूषया—ऐसा होने की आशा से; एषाम्—उनका; गान्धर्व—ब्याह की; वृत्त्या—ऐसी प्रथा द्वारा; मिषताम्—ले जाते हुए; स्व-भागम्—अपना हिस्सा; जहे—ले गया; पदम्—पाँव; मूर्ध्नि—सिर पर; दधत्—रखते हुए; सुपर्णः—गरुड़।

राजा भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी के सौन्दर्य तथा सम्पत्ति से आकृष्ट होकर अनेक बड़े-बड़े राजकुमार तथा राजा उससे ब्याह करने के लिए एकत्र हुए। किन्तु भगवान् कृष्ण अन्य आशावान् अभ्यर्थियों को पछाड़ते हुए उसी तरह अपना भाग जान कर उसे उठा ले गये जिस तरह गरुड़ अमृत ले गया था।

तात्पर्य : राजा भीष्मक की पुत्री कुमारी रुक्मिणी सचमुच ही लक्ष्मी जैसी आकर्षक थीं, क्योंकि वे रंग तथा गुण दोनों में ही स्वर्ण जैसी मूल्यवान थीं। चूँकि लक्ष्मीजी भगवान् की सम्पत्ति हैं, अतः रुक्मिणी वास्तव में कृष्ण के ही निमित्त थीं। किन्तु रुक्मिणी के बड़े भाई ने शिशुपाल को उसके पति के रूप में चुना था, यद्यपि राजा भीष्मक अपनी पुत्री का विवाह कृष्ण से करना चाहते थे। रुक्मिणी ने शिशुपाल के चंगुल से अपने को छुड़ाने के लिए कृष्ण को आमंत्रित किया, अतः जब दूल्हा बनकर शिशुपाल अपनी टोली सहित रुक्मिणी से विवाह करने की इच्छा से वहाँ आया तो कृष्ण सहसा ही सभी राजकुमारों को पछाड़ते हुए रुक्मिणी को वहाँ से ऐसे उठा ले गये जिस तरह गरुड़ असुरों के हाथ से अमृत ले भागा था। इस घटना की स्पष्ट विवेचना दशम स्कन्ध में की जाएगी।

ककुच्चिनोऽविद्धनसो दमित्वा

स्वयंवरे नाग्नजितीमुवाह ।

तद्भग्नमानानपि गृध्यतोऽज्ञा-

ञ्जघ्नेऽक्षतः शस्त्रभृतः स्वशस्त्रैः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

ककुच्चिनः—बैल जिनकी नाकें छिदी हुई नहीं थीं; अविद्ध-नसः—नाकें छिदी हुई; दमित्वा—दमन करके; स्वयंवरे—दुलहिन चुनने के लिए खुली स्पर्धा में; नाग्नजितीम्—राजकुमारी नाग्नजिती को; उवाह—ब्याहा; तत्-भग्नमानान्—इस तरह निराश हुआ को; अपि—यद्यपि; गृध्यतः—चाहा; अज्ञान्—मूर्खजन; जघ्ने—मार तथा घायल किया; अक्षतः—बिना घायल हुए; शस्त्र-भृतः—सभी हथियारों से लैस; स्व-शस्त्रैः—अपने हथियारों से।

बिना नथ वाले सात बैलों का दमन करके भगवान् ने स्वयंवर की खुली स्पर्धा में राजकुमारी नाग्नजिती का हाथ प्राप्त किया। यद्यपि भगवान् विजयी हुए, किन्तु उनके प्रत्याशियों ने राजकुमारी का हाथ चाहा, अतः युद्ध हुआ। अतः शस्त्रों से अच्छी तरह लैस, भगवान् ने उन सबों को मार डाला या घायल कर दिया, परन्तु स्वयं उन्हें कोई चोट नहीं आई।

प्रियं प्रभुर्ग्राम्य इव प्रियाया
 विधित्सुरार्च्छद्द्युतरुं यदर्थे ।
 वद्भ्याद्रवत्तं सगणो रुषान्धः
 क्रीडामृगो नूनमयं वधूनाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

प्रियम्—प्रिय पत्नी के; प्रभुः—स्वामी; ग्राम्यः—सामान्य जीव; इव—सदृश; प्रियायाः—प्रसन्न करने के लिए; विधित्सुः—चाहते हुए; आर्च्छत्—ले आये; द्युतरुम्—पारिजात पुष्प का वृक्ष; यत्—जिसके; अर्थे—विषय में; वज्री—स्वर्ग का राजा इन्द्र; आद्रवत् तम्—उससे लड़ने आया; स-गणः—दलबल सहित; रुषा—क्रोध में; अन्धः—अन्धा; क्रीडा-मृगः—कठपुतली; नूनम्—निस्सन्देह; अयम्—यह; वधूनाम्—स्त्रियों का।

अपनी प्रिय पत्नी को प्रसन्न करने के लिए भगवान् स्वर्ग से पारिजात वृक्ष ले आये जिस तरह कि एक सामान्य पति करता है। किन्तु स्वर्ग के राजा इन्द्र ने अपनी पत्नियों के उकसाने पर (क्योंकि वह स्त्रीवश्य था) लड़ने के लिए दलबल सहित भगवान् का पीछा किया।

तात्पर्य : एक बार जब भगवान् देवताओं की माता अदिति को कान के कुण्डल भेंट करने स्वर्गलोक गये तो उनकी पत्नी सत्यभामा भी उनके साथ गई थीं। पारिजात नामक एक विशेष पुष्प वृक्ष केवल स्वर्ग में ही उगता है। सत्यभामा ने इस वृक्ष को लेने की इच्छा प्रकट की। भगवान् अपनी पत्नी को प्रसन्न करने के लिए सामान्य पति की तरह वह वृक्ष अपने साथ ले आये। इससे वज्री अर्थात् वज्र का नियन्ता इन्द्र कुपित हो उठा। इन्द्र की पत्नियों ने उसे युद्ध करने के लिए भगवान् का पीछा करने को उकसाया। चूँकि इन्द्र स्त्रीवश्य पति था और मूर्ख भी था, अतः वह उनके कहने में आ गया और उसने कृष्ण से युद्ध करने का दुस्साहस किया। वह इस अवसर पर मूर्ख बना, क्योंकि वह भूल गया कि प्रत्येक वस्तु भगवान् की है।

यद्यपि भगवान् स्वर्गलोक से वृक्ष ले आये थे, किन्तु इसमें उनका कोई दोष नहीं था। फिर भी शची जैसी सुन्दर पत्नियों का वशीभूत इन्द्र, स्त्रीवश्य होने से, मूर्ख बना जिस तरह स्त्री के वश में रहने वाले सामान्य व्यक्ति मूर्ख होते हैं। इन्द्र ने सोचा कि कृष्ण स्त्रीवश्य पति हैं जिसने अपनी पत्नी सत्यभामा की इच्छा मात्र से स्वर्ग की सम्पत्ति का हरण किया है, अतः उसने कृष्ण को दण्ड देने की सोची। वह यह भूल गया कि भगवान् प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं, और वे स्त्रीवश्य नहीं हो सकते। भगवान् पूर्णतया स्वतंत्र हैं, और इच्छा मात्र से वे सत्यभामा जैसी हजारों पत्नियाँ पा सकते हैं। अतः वे सत्यभामा पर इसलिए अनुरक्त नहीं थे कि वह सुन्दर पत्नी थी, अपितु वे उसकी भक्ति से प्रसन्न थे,

अतः वे अपने भक्त की शुद्ध भक्ति का प्रतिदान देना चाह रहे थे।

सुतं मृधे खं वपुषा ग्रसन्तं
दृष्ट्वा सुनाभोन्मथितं धरित्र्या ।
आमन्त्रितस्तत्तनयाय शेषं
दत्त्वा तदन्तःपुरमाविवेश ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सुतम्—पुत्र को; मृधे—युद्ध में; खम्—आकाश; वपुषा—अपने शरीर से; ग्रसन्तम्—निगलते हुए; दृष्ट्वा—देखकर; सुनाभ—सुदर्शन चक्र से; उन्मथितम्—मार डाला; धरित्र्या—पृथ्वी द्वारा; आमन्त्रितः—प्रार्थना किये जाने पर; तत्-तनयाय—नरकासुर के पुत्र को; शेषम्—उससे लिया हुआ; दत्त्वा—लौटा कर; तत्—उसके; अन्तः-पुरम्—घर के भीतर; आविवेश—घुसे।

धरित्री अर्थात् पृथ्वी के पुत्र नरकासुर ने सम्पूर्ण आकाश को निगलना चाहा जिसके कारण युद्ध में वह भगवान् द्वारा मार डाला गया। तब उसकी माता ने भगवान् से प्रार्थना की। इससे नरकासुर के पुत्र को राज्य लौटा दिया गया और भगवान् उस असुर के घर में प्रविष्ट हुए।

तात्पर्य : अन्य पुराणों में यह कहा गया है कि नरकासुर भगवान् द्वारा उत्पन्न धरित्री पृथ्वी का पुत्र था। किन्तु वह एक अन्य असुर बाण की कुसंगति के कारण असुर बन गया। नास्तिक को असुर कहा जाता है और यह एक तथ्य है कि अच्छे माता पिता से उत्पन्न व्यक्ति भी कुसंगति से असुर बन सकता है। किसी का जन्म ही सदैव अच्छाई की कसौटी नहीं है। जब तक कोई व्यक्ति अच्छी संगति की शिक्षा नहीं पाता तब तक वह अच्छा नहीं बन सकता।

तत्राहतास्ता नरदेवकन्याः
कुजेन दृष्ट्वा हरिमार्तबन्धुम् ।
उत्थाय सद्यो जगृहुः प्रहर्ष-
व्रीडानुरागप्रहितावलोकैः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तत्र—नरकासुर के घर के भीतर; आहताः—अपहृत, भगाई हुई; ताः—उन सबों को; नर-देव-कन्याः—अनेक राजाओं की पुत्रियों को; कुजेन—असुर द्वारा; दृष्ट्वा—देखकर; हरिम्—भगवान् को; आर्त-बन्धुम्—दुखियारों के मित्र; उत्थाय—उठकर; सद्यः—वहीं पर, तत्काल; जगृहुः—स्वीकार किया; प्रहर्ष—हँसी खुशी के साथ; व्रीड—लज्जा; अनुराग—आसक्ति; प्रहित-अवलोकैः—उत्सुक चितवनों से।

उस असुर के घर में नरकासुर द्वारा हरण की गई सारी राजकुमारियाँ दुखियारों के मित्र भगवान् को देखते ही चौकन्नी हो उठीं। उन्होंने अतीव उत्सुकता, हर्ष तथा लज्जा से भगवान् की ओर देखा और अपने को उनकी पत्नियों के रूप में अर्पित कर दिया।

तात्पर्य : नरकासुर ने बड़े-बड़े राजाओं की अनेक पुत्रियों का अपहरण किया था और उन्हें अपने राजमहल में बन्दी बनाकर रखा था। किन्तु जब वह भगवान् द्वारा मार डाला गया और जब भगवान् उस असुर के घर में प्रविष्ट हुए तो सारी राजकुमारियाँ हर्ष से प्रफुल्लित हो उठीं और उन्होंने उनकी पत्नियाँ बनने के लिए स्वयं को अर्पित कर दिया, क्योंकि भगवान् ही दुखियारों के एकमात्र मित्र हैं। यदि भगवान् उन्हें स्वीकार नहीं करते तो उन सबों के विवाहित होने की कोई सम्भावना नहीं थी, क्योंकि उस असुर ने उनको उनके पिता के संरक्षण से अपहरण किया था, अतः कोई भी व्यक्ति उनसे विवाह करने के लिए राजी न होता। वैदिक समाज की रीति के अनुसार कन्याएँ पिता के संरक्षण से पति के संरक्षण में भेजी जाती हैं। चूँकि ये कन्याएँ पहले ही अपने-अपने पिता के संरक्षण से अपहृत की जा चुकी थीं, अतएव भगवान् के अतिरिक्त उनके लिए अन्य कोई पति प्राप्त कर पाना असम्भव होता।

आसां मुहूर्त एकस्मिन्नागारेषु योषिताम् ।
सविधं जगृहे पाणीनरूपः स्वमायया ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

आसाम्—सबों को; मुहूर्त—एक समय; एकस्मिन्—एकसाथ; नाना-आगारेषु—विभिन्न कमरों में; योषिताम्—स्त्रियों के; स-विधम्—विधिपूर्वक; जगृहे—स्वीकार किया; पाणीन्—हाथों को; अनुरूपः—के अनुरूप; स्व-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से।

वे सभी राजकुमारियाँ अलग-अलग भवनों में रखी गई थीं और भगवान् ने एकसाथ प्रत्येक राजकुमारी के लिए उपयुक्त युग्म के रूप में विभिन्न शारीरिक अंश धारण कर लिये। उन्होंने अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा विधिवत् उनके साथ पाणिग्रहण कर लिया।

तात्पर्य : ब्रह्म-संहिता (५.३३) में भगवान् उनके असंख्य स्वांशों के साथ निम्नवत् वर्णन हुआ है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्

आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च ।

वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं उन भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो आदि भगवान् हैं। वे अपने असंख्य स्वांशों से

अभिन्न हैं; वे अच्युत, आदि, तथा असीम हैं एवं नित्य स्वरूपों वाले हैं। यद्यपि वे सबसे प्राचीन पुरुष हैं, किन्तु वे सदैव नवीन तथा युवा रहते हैं।” भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से स्वयं प्रकाश के विविध पुरुषों में और पुनः प्राभव तथा वैभव रूपों में विस्तार कर सकते हैं। ये सारे रूप एक दूसरे से अभिन्न होते हैं। भगवान् ने विभिन्न भवनों में रह रही राजकुमारियों के साथ विवाह करने के लिए जिन रूपों में अपना विस्तार किया वे उनमें से हर एक के अनुरूप होने से कुछ-कुछ भिन्न थे। वे भगवान् के वैभव-विलास रूप कहलाते हैं और उनकी अन्तरंगा शक्ति योग-माया द्वारा क्रियाशील होते हैं।

तास्वपत्यान्यजनयदात्मतुल्यानि सर्वतः ।

एकैकस्यां दश दश प्रकृतेर्विबुभूषया ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तासु—उनके; अपत्यानि—सन्तानें; अजनयत्—उत्पन्न किया; आत्म-तुल्यानि—अपने ही समान; सर्वतः—सभी तरह से; एक-एकस्याम्—उनमें से हर एक में; दश—दस; दश—दस; प्रकृतेः—अपना विस्तार करने के लिए; विबुभूषया—ऐसी इच्छा करते हुए।

अपने दिव्य स्वरूपों के अनुसार ही अपना विस्तार करने के लिए भगवान् ने उनमें से हर एक से ठीक अपने ही गुणों वाली दस-दस सन्तानें उत्पन्न कीं।

कालमागधशाल्वादीननीकै रुन्धतः पुरम् ।

अजीघनत्स्वयं दिव्यं स्वपुंसां तेज आदिशत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

काल—कालयवन; मागध—मगध का राजा (जरासन्ध); शाल्व—शाल्व राजा; आदीन्—इत्यादि; अनीकैः—सैनिकों से; रुन्धतः—घिरा हुआ; पुरम्—मथुरा नगरी; अजीघनत्—मार डाला; स्वयम्—स्वयं; दिव्यम्—दिव्य; स्व-पुंसाम्—अपने ही लोगों को; तेजः—तेज; आदिशत्—प्रकट किया।

कालयवन, मगध के राजा तथा शाल्व ने मथुरा नगरी पर आक्रमण किया, किन्तु जब नगरी उनके सैनिकों से घिर गई तो भगवान् ने अपने जनों की शक्ति प्रदर्शित करने के उद्देश्य से उन सबों को स्वयम् नहीं मारा।

तात्पर्य : कंस की मृत्यु के बाद जब मथुरा नगरी कालयवन, जरासन्ध तथा शाल्व के सैनिकों द्वारा घेर ली गई तो भगवान् इस नगरी से एक तरह से भाग निकले और इस तरह वे रणछोड़ अर्थात् वह जो युद्ध से भाग जाये- कहलाते हैं। वस्तुतः तथ्य यह है कि भगवान् उन सबों को अपने-जनों से अर्थात् मुचुकुंद तथा भीम जैसे भक्तों से, मरवाना चाहते थे। कालयवन तथा मगधराज का वध क्रमशः मुचुकुंद

तथा भीम द्वारा किया गया जिन्होंने भगवान् के प्रतिनिधि (एजेन्ट) की भूमिका निभाई। ऐसे कार्यों द्वारा भगवान् अपने भक्तों के पराक्रम (तेज) को प्रदर्शित कराना चाहते थे मानो वे स्वयं उनसे युद्ध करने में असमर्थ हों, परन्तु उनके भक्त उन लोगों का वध कर सकते थे। भगवान् का अपने भक्तों के साथ जो सम्बन्ध है, वह अत्यन्त सुखद है। वस्तुतः भगवान् संसार के अवांछित तत्त्वों का वध करने के लिए ब्रह्मा के अनुरोध पर अवतरित हुए थे, किन्तु यश का श्रेय विभाजित करने के उद्देश्य से उन्होंने कभी-कभी यह श्रेय दिलाने के लिए अपने भक्तों को लगाया। कुरुक्षेत्र का युद्ध स्वयं भगवान् द्वारा नियोजित था, किन्तु अपने भक्त अर्जुन को श्रेय देने के लिए (*निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्*), उन्होंने सारथी की भूमिका निभाई और अर्जुन को योद्धा की भूमिका निभाने का अवसर प्रदान किया। इस तरह अर्जुन कुरुक्षेत्र युद्ध के नायक बने। कृष्ण अपनी दिव्य योजनाओं द्वारा जो कुछ स्वयं करना चाहते हैं उसे वे अपने विश्वस्त भक्तों के माध्यम से सम्पन्न कराते हैं। अपने शुद्ध अनन्य भक्तों के प्रति भगवान् की कृपा की यही रीति है।

शम्बरं द्विविदं बाणं मुरं बल्ललमेव च ।

अन्यांश्च दन्तवक्रादीनवधीत्कांश्च घातयत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

शम्बरम्—शम्बर; द्विविदम्—द्विविद; बाणम्—बाण; मुरम्—मुर; बल्ललम्—बल्लल; एव च—तथा; अन्यान्—अन्यों को; च—भी; दन्तवक्र-आदीन्—दन्तवक्र इत्यादि को; अवधीत्—मारा; कान् च—तथा अनेक अन्यों को; घातयत्—मरवाया।

शम्बर, द्विविद, बाण, मुर, बल्लल जैसे राजाओं तथा दन्तवक्र इत्यादि बहुत से असुरों में से

कुछ को उन्होंने स्वयं मारा और कुछ को अन्यों (यथा बलदेव इत्यादि) द्वारा मरवाया।

अथ ते भ्रातृपुत्राणां पक्षयोः पतितानृपान् ।

चचाल भूः कुरुक्षेत्रं येषामापततां बलैः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; ते—तुम्हारे; भ्रातृ-पुत्राणाम्—भतीजों के; पक्षयोः—दोनों पक्षों के; पतितान्—मारे गये; नृपान्—राजाओं को; चचाल—हिला दिया; भूः—पृथ्वी; कुरुक्षेत्रम्—कुरुक्षेत्र युद्धस्थल; येषाम्—जिसके; आपतताम्—चलते समय; बलैः—बल द्वारा।

तत्पश्चात्, हे विदुर, भगवान् ने शत्रुओं को तथा लड़ रहे तुम्हारे भतीजों के पक्ष के समस्त राजाओं को कुरुक्षेत्र के युद्ध में मरवा डाला। वे सारे राजा इतने विराट तथा बलवान थे कि जब

वे युद्धभूमि में विचरण करते तो पृथ्वी हिलती प्रतीत होती।

स कर्णदुःशासनसौबलानां

कुमन्त्रपाकेन हतश्रियायुषम् ।

सुयोधनं सानुचरं शयानं

भग्नोरुमूर्व्यां न ननन्द पश्यन् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान्); कर्ण—कर्ण; दुःशासन—दुःशासन; सौबलानाम्—सौबल; कुमन्त्र-पाकेन—कुमंत्रणा की जटिलता से; हत-श्रिय—सम्पत्ति से विहीन; आयुषम्—आयु से; सुयोधनम्—दुर्योधन; स-अनुचरम्—अनुयायियों सहित; शयानम्—लेटे हुए; भग्न—टूटी; ऊरुम्—जंघाएँ; ऊर्व्याम्—अत्यन्त शक्तिशाली; न—नहीं; ननन्द—आनन्द मिला; पश्यन्—इस तरह देखते हुए।

कर्ण, दुःशासन तथा सौबल की कुमंत्रणा के कपट-योग के कारण दुर्योधन अपनी सम्पत्ति तथा आयु से विहीन हो गया। यद्यपि वह शक्तिशाली था, किन्तु जब वह अपने अनुयायियों समेत भूमि पर लेटा हुआ था उसकी जाँघें टूटी थीं। भगवान् इस दृश्य को देखकर प्रसन्न नहीं थे।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र के अग्रणी पुत्र दुर्योधन का पतन भगवान् को अच्छा नहीं लगा, यद्यपि वे अर्जुन के पक्ष में थे और उन्होंने ही भीम को सलाह दी थी कि युद्ध में दुर्योधन की जाँघें किस तरह तोड़े। भगवान् को बाध्य होकर बुराई करने वाले को दण्ड देना पड़ता है, किन्तु ऐसा दण्ड देते हुए वे प्रसन्न नहीं होते, क्योंकि सारे जीव मूलतः उनके भिन्नांश होते हैं। वे बुराई करने वाले के प्रति वज्र से भी कठोर तथा श्रद्धावानों के प्रति गुलाब के फूल से भी कोमल रहते हैं। बुराई करने वाला कुसंगियों द्वारा तथा कुमंत्रणा द्वारा दिग्भ्रमित हो जाता है, जो भगवान् के आदेश के अन्तर्गत स्थापित सिद्धान्तों के प्रतिकूल है, और इस प्रकार वह दण्ड का भागी बनता है। सुख का सबसे निश्चित मार्ग भगवान् द्वारा बनाये गये सिद्धान्तों का पालन करना तथा उनके द्वारा स्थापित नियमों का उल्लंघन न करना है। ये नियम भुलक्कड़ जीवों के लिए वेदों तथा पुराणों में निरूपित हैं।

कियान्भुवोऽयं क्षपितोरुभारो

यद्दरोणभीष्मार्जुनभीममूलैः ।

अष्टादशाक्षौहिणिको मदंशै-

रास्ते बलं दुर्विषहं यदूनाम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

कियान्—यह क्या है; भुवः—पृथ्वी पर; अयम्—यह; क्षपित—घटा हुआ; उरु—बहुत बड़ा; भारः—भार, बोझा; यत्—जो; द्रोण—द्रोण; भीष्म—भीष्म; अर्जुन—अर्जुन; भीम—भीम; मूलैः—सहायता से; अष्टादश—अठारह; अक्षौहिणिकः—सैन्यबल की व्यूह रचना (देखें भागवत १.१६.३४); मत्-अंशैः—मेरे वंशजों के साथ; आस्ते—अब भी हैं; बलम्—महान् शक्ति; दुर्विषहम्—असह्य; यदूनाम्—यदुवंश की ।

[कुरुक्षेत्र युद्ध की समाप्ति पर भगवान् ने कहा] अब द्रोण, भीष्म, अर्जुन तथा भीम की सहायता से अठारह अक्षौहिणी सेना का पृथ्वी का भारी बोझ कम हुआ है। किन्तु यह क्या है? अब भी मुझी से उत्पन्न यदुवंश की विशाल शक्ति शेष है, जो और भी अधिक असह्य बोझ बन सकती है।

तात्पर्य : यह एक गलत सिद्धान्त है कि जनसंख्या वृद्धि से संसार अतिबोज़िल हो उठता है और इसीलिए युद्ध तथा अन्य संहारक प्रक्रियाएँ होती हैं। पृथ्वी कभी भी अतिबोज़िल नहीं होती। पृथ्वी पर स्थित गुरुतम पर्वतों तथा समुद्रों में मनुष्यों की अपेक्षा अधिक जीव रहते हैं, किन्तु वे कभी अतिबोज़िल नहीं होते। यदि पृथ्वी की सतह पर रहने वाले समस्त जीवों की गणना की जाय तो यह निश्चित रूप से पाया जाएगा कि मनुष्यों की जनसंख्या समस्त जीवों की संख्या का पाँच प्रतिशत भी नहीं है। यदि मनुष्यों की जन्म दर बढ़ रही है, तो उसी अनुपात में अन्य जीवों की जन्म दर भी बढ़ रही है। निम्नतर पशुओं—थलचरों, जलचरों, पक्षियों—की जन्म दर मनुष्यों की अपेक्षा कहीं अधिक है। भगवान् के आदेश से पृथ्वी के सारे जीवों के लिए भोजन की पर्याप्त व्यवस्था है और यदि जीवों में असमानुपातिक वृद्धि हो तो वे और अधिक की व्यवस्था कर सकते हैं।

इसलिए जनसंख्या में वृद्धि से भार बढ़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। पृथ्वी *धर्मग्लानि* अर्थात् भगवान् की इच्छा के अनियमित पालन से अतिबोज़िल हो गई थी। भगवान् दुष्टों की वृद्धि रोकने के लिए पृथ्वी पर प्रकट हुए, न कि जनसंख्या में वृद्धि के कारण जैसाकि संसारी अर्थशास्त्रियों द्वारा मिथ्या कथन किया जाता है। जब भगवान् कृष्ण प्रकट हुए तो ऐसे दुष्टों की संख्या काफी बढ़ गई थी जो भगवान् की इच्छाओं का उल्लंघन कर रहे थे। यह भौतिक सृष्टि भगवान् की इच्छापूर्ति के लिए है और उनकी यह इच्छा है कि वे बद्धजीव जो भगवद्धाम में प्रवेश पाने के अयोग्य हैं उन्हें प्रवेश पाने के लिए अपनी स्थिति सुधारने का अवसर प्राप्त हो। विश्व व्यवस्था की समूची प्रक्रिया का मन्तव्य बद्धजीव को भगवद्धाम में प्रवेश करने का अवसर प्रदान करना है। और भगवान् ने उनके भरण-पोषण के लिए पर्याप्त व्यवस्था कर रखी है।

इसलिए भले ही पृथ्वी पर जनसंख्या की महती वृद्धि क्यों न हो, यदि लोग ईशभावनामृत का सही ढंग से पालन करते हैं और दुष्ट नहीं हैं, तो पृथ्वी का यह भार उसके लिए आनन्द का स्रोत है। भार दो प्रकार के होते हैं—पशु-भार तथा प्रेम-भार। पशु-भार असह्य होता है, किन्तु प्रेम-भार आनन्द का स्रोत होता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने प्रेम-भार का अत्यन्त व्यावहारिक वर्णन किया है। वे कहते हैं कि युवा पत्नी पर पति का भार, माता की गोद में शिशु का भार तथा व्यापारी पर सम्पत्ति का भार, ये यद्यपि गुरुता की दृष्टि से वास्तव में भार हैं, किन्तु ये आनन्द के स्रोत हैं और ऐसी बोझिल वस्तुओं के अभाव में वियोग का बोझ अनुभव हो सकता है, जो प्रेम के वास्तविक भार की अपेक्षा सहन किये जाने में अधिक भारी होता है। जब भगवान् कृष्ण ने पृथ्वी पर यदुवंश के भार की बात की, तो उन्होंने पशुभार से कुछ भिन्न वस्तु का प्रसंग छोड़ा। कृष्ण से उत्पन्न पारिवारिक सदस्यों की संख्या लाखों में थी और यह सचमुच ही पृथ्वी की जनसंख्या में महान् वृद्धि थी, किन्तु वे सब उनके दिव्य स्वांशों से उत्पन्न भगवान् के ही अंश थे, अतएव पृथ्वी के लिए वे महान् आनन्द के स्रोत थे। जब पृथ्वी के भार के सम्बन्ध में भगवान् ने उनका उल्लेख किया, तो उनके मन में पृथ्वी से उनके आसन्न लोप का भाव था। भगवान् कृष्ण के परिवार के सारे सदस्य विभिन्न देवताओं के अवतार थे और उन्हें भगवान् के साथ ही पृथ्वी से विलुप्त होना था। जब उन्होंने यदुवंश के सम्बन्ध में पृथ्वी के असह्य भार का उल्लेख किया, तो वे उनके विछोह भार का ही संकेत कर रहे थे। श्रील जीव गोस्वामी ने इस निष्कर्ष की पुष्टि की है।

मिथो यदैषां भविता विवादो

मध्वामदाताप्रविलोचनानाम् ।

नैषां वधोपाय इयानतोऽन्यो

मय्युद्यतेऽन्तर्दधते स्वयं स्म ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मिथः—परस्पर; यदा—जब; एषाम्—उनके; भविता—होगा; विवादः—झगड़ा; मधु-आमद—शराब पीने से उत्पन्न नशा; आताम्र-विलोचनानाम्—ताँबे जैसी लाल आँखों के; न—नहीं; एषाम्—उनके; वध-उपायः—लोप का साधन; इयान्—इस जैसा; अतः—इसके अतिरिक्त; अन्यः—वैकल्पिक; मयि—मुझ पर; उद्यते—लोप; अन्तः-दधते—विलुप्त होंगे; स्वयम्—अपने से; स्म—निश्चय है।

जब वे नशे में चूर होकर, मधु-पान के कारण ताँबे जैसी लाल-लाल आँखें किये, परस्पर लड़ेंगे-झगड़ेंगे तभी वे विलुप्त होंगे अन्यथा यह सम्भव नहीं है। मेरे अन्तर्धान होने पर यह घटना

घटेगी।

तात्पर्य : भगवान् तथा उनके संगी भगवान् की इच्छा से प्रकट तथा अप्रकट होते हैं। उन पर भौतिक प्रकृति के नियम लागू नहीं होते। भगवान् के परिवार का वध कर सकने में कोई भी समर्थ न था, न ही प्रकृति के नियमों द्वारा उनकी स्वाभाविक मृत्यु की सम्भावना थी। इसलिए उनके विलोप का एकमात्र साधन था कि वे परस्पर छद्म युद्ध करें मानो मदिरा पीकर वे उन्मत्त हो रहे हों। यह तथाकथित युद्ध भी भगवान् की इच्छा से हो सकता था अन्यथा उन सबके लड़ने का कोई कारण नहीं था। जिस तरह अर्जुन पारिवारिक स्नेह के कारण मोहित हो उठा था और तब उससे *भगवद्गीता* कही गई थी उसी तरह यदुवंश को भगवान् की इच्छा से ही मदोन्मत्त बनाया गया था। इससे अधिक कुछ नहीं था। भगवान् के भक्त तथा संगी पूर्णतया शरणागत आत्माएँ हैं। अतएव वे भगवान् के हाथों में दिव्य साधन हैं और भगवान् जैसा चाहें उनका उपयोग हो सकता है। शुद्ध भक्त भी भगवान् की ऐसी लीलाओं का आनन्द लेते हैं, क्योंकि वे भगवान् को प्रसन्न देखना चाहते हैं। भगवान् के भक्त कभी भी स्वतंत्र व्यक्तित्व पर बल नहीं देते, उल्टे वे अपनी वैयक्तिकता का उपयोग भगवान् की इच्छाओं को पूरा करने में करते हैं। भगवान् के साथ भक्तों का यह सहयोग भगवान् की लीलाओं को पूर्णता प्रदान करता है।

एवं सञ्चिन्त्य भगवान्स्वराज्ये स्थाप्य धर्मजम् ।

नन्दयामास सुहृदः साधूनां वर्त्म दर्शयन् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सञ्चिन्त्य—अपने मन में सोचकर; भगवान्—भगवान् ने; स्व-राज्ये—अपने राज्य में; स्थाप्य—स्थापित करके; धर्मजम्—महाराज युधिष्ठिर को; नन्दयाम् आस—हर्षित किया; सुहृदः—मित्र गणों; साधूनाम्—सन्तों के; वर्त्म—मार्ग; दर्शयन्—दिखलाते हुए।

इस तरह अपने आप सोचते हुए भगवान् कृष्ण ने पुण्य के मार्ग में प्रशासन का आदर्श प्रदर्शित करने के लिए संसार के परम नियन्ता के पद पर महाराज युधिष्ठिर को स्थापित किया।

उत्तरायां धृतः पूरोर्वशः साध्वभिमन्युना ।

स वै द्रौण्यस्त्रसम्प्लुष्टः पुनर्भगवता धृतः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

उत्तरायाम्—उत्तरा के; धृतः—स्थापित; पूरोः—पूरु का; वंशः—उत्तराधिकारी; साधु-अभिमन्युना—वीर अभिमन्यु द्वारा; सः—वह; वै—निश्चय ही; द्रौणि-अस्त्र—द्रोण के पुत्र द्रौणि के हथियार द्वारा; सम्प्लुष्टः—जलाया जाकर; पुनः—दुबारा; भगवता—भगवान् द्वारा; धृतः—बचाया गया था।

महान् वीर अभिमन्यु द्वारा अपनी पत्नी उत्तरा के गर्भ में स्थापित पूरु के वंशज का भ्रूण द्रोण के पुत्र के अस्त्र द्वारा भस्म कर दिया गया था, किन्तु बाद में भगवान् ने उसकी पुनः रक्षा की।

तात्पर्य : महान् वीर अभिमन्यु से उत्तरा द्वारा गर्भधारण करने के बाद जब परीक्षित का शरीर भ्रूणावस्था में था, तो अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र द्वारा वह भस्म कर दिया गया था, किन्तु भगवान् ने गर्भ के भीतर दूसरा शरीर प्रदान किया। इस तरह पूरु का वंशज बचा लिया गया। यह घटना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि शरीर तथा जीव अर्थात् आध्यात्मिक स्फुलिंग भिन्न-भिन्न हैं। जब पुरुष के वीर्य के प्रवेश से स्त्री के गर्भ में जीव आश्रय पाता है, तो पुरुष तथा स्त्री के स्रावों का मिश्रण होता है, जिससे मटर के आकार का शरीर निर्मित होता है, जो धीरे-धीरे बढ़कर पूर्ण शरीर में विकसित हो जाता है। किन्तु यदि किसी तरह यह भ्रूण नष्ट कर दिया जाता है, तो जीव को दूसरे शरीर में या दूसरी स्त्री के गर्भ में आश्रय लेना पड़ता है। वह विशिष्ट जीव, जिसे महाराज पूरु या पाण्डवों का वंशज बनने के लिए चुना गया था, कोई सामान्य जीव न था और भगवान् की महती इच्छा से उसे महाराज युधिष्ठिर का उत्तराधिकारी होना था। अतएव जब अश्वत्थामा ने महाराज परीक्षित के भ्रूण को विनष्ट कर दिया तो भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा अपने स्वांश से उत्तरा के गर्भ में भावी एवं संकटग्रस्त महाराज परीक्षित को दर्शन देने के लिए प्रविष्ट हुए। गर्भ के भीतर अपने प्राकट्य से भगवान् ने शिशु को प्रोत्साहित किया और अपनी सर्वशक्तिमत्ता से नवीन शरीर में उसे पूर्ण सुरक्षा प्रदान की। वे अपनी सर्वव्यापकता की शक्ति से उत्तरा तथा पाण्डव परिवार के अन्य जनों के भीतर तथा बाहर उपस्थित थे।

अयाजयद्धर्मसुतमश्वमेधैस्त्रिभिर्विभुः ।

सोऽपि क्षमामनुजै रक्षत्रेमे कृष्णमनुव्रतः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अयाजयत्—सम्पन्न कराया; धर्म—सुतम्—धर्म के पुत्र (महाराज युधिष्ठिर) द्वारा; अश्वमेधैः—यज्ञ द्वारा; त्रिभिः—तीन; विभुः—परमेश्वर; सः—महाराज युधिष्ठिर; अपि—भी; क्षमाम्—पृथ्वी को; अनुजैः—अपने छोटे भाइयों सहित; रक्षन्—रक्षा करते हुए; रेमे—भोग किया; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण; अनुव्रतः—निरन्तर अनुगामी।

भगवान् ने धर्म के पुत्र महाराज युधिष्ठिर को तीन अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करने के लिए प्रेरित किया और उन्होंने भगवान् कृष्ण का निरन्तर अनुगमन करते हुए अपने छोटे भाइयों की सहायता

से पृथ्वी की रक्षा की और उसका भोग किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी पर आदर्श राजकीय प्रतिनिधि थे, क्योंकि वे भगवान् कृष्ण के निरन्तर अनुगामी थे। जैसाकि वेदों में (*ईशोपनिषद्*) में कहा गया है भगवान् इस दृश्य विराट सृष्टि के स्वामी हैं, जो बद्धजीवों को अपने साथ उनका सम्बन्ध पुनरुज्जीवित करने का और इस तरह भगवद्धाम वापस जाने का अवसर प्रदान करती है। भौतिक जगत की सम्पूर्ण प्रणाली उसी कार्यक्रम तथा योजना द्वारा व्यवस्थित है। जो भी इस योजना का उल्लंघन करता है, वह प्रकृति के नियम द्वारा दण्डित होता है, क्योंकि प्रकृति परमेश्वर के निर्देशानुसार कार्य करती है। महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी के सिंहासन पर भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में प्रतिष्ठापित हुए थे। राजा से सदैव भगवान् का प्रतिनिधि होने की अपेक्षा की जाती है। पूर्ण एकाधिपत्य के लिए भगवान् की इच्छा का प्रतिनिधित्व आवश्यक होता है और महाराज युधिष्ठिर इस परम नियम के अनुसार एक आदर्श राजा थे। राजा तथा प्रजा दोनों ही अपने कर्तव्य-निर्वाह से सुखी थे और इस तरह भौतिक प्रकृति के पूर्ण सहयोग से प्रजा की सुरक्षा तथा स्वाभाविक जीवन का भोग महाराज युधिष्ठिर तथा महाराज परीक्षित जैसे योग्य वंशजों के शासन में अपने आप प्राप्त थे।

भगवानपि विश्वात्मा लोकवेदपथानुगः ।

कामान्सिषेवे द्वार्वत्यामसक्तः साङ्ख्यमास्थितः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; अपि—भी; विश्व-आत्मा—ब्रह्माण्ड के परमात्मा; लोक—लोक व्यवहार; वेद—वैदिक सिद्धान्त; पथ-
अनुगः—मार्ग का अनुकरण करने वाला; कामान्—जीवन की आवश्यकताएँ; सिषेवे—भोग किया; द्वार्वत्याम्—द्वारकापुरी में;
असक्तः—बिना आसक्त हुए; साङ्ख्यम्—सांख्य दर्शन के ज्ञान में; आस्थितः—स्थित होकर।

उसी के साथ-साथ भगवान् ने समाज के वैदिक रीति-रिवाजों का दृढ़ता से पालन करते हुए द्वारकापुरी में जीवन का भोग किया। वे सांख्य दर्शन प्रणाली के द्वारा प्रतिपादित वैराग्य तथा ज्ञान में स्थित थे।

तात्पर्य : जब महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी के सम्राट् थे तो श्रीकृष्ण द्वारका के राजा थे और द्वारकाधीश कहलाते थे। अन्य अधीन राजाओं की तरह वे भी महाराज युधिष्ठिर के शासन के अधीन थे। यद्यपि भगवान् कृष्ण सम्पूर्ण सृष्टि के परम सम्राट् हैं, किन्तु जब तक वे धराधाम में रहे उन्होंने कभी भी

वैदिक आदेशों का उल्लंघन नहीं किया, क्योंकि ये मानव जीवन के लिए मार्गदर्शक होते हैं। सांख्य दर्शन नामक ज्ञान-प्रणाली पर आधारित वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार नियमित मानव जीवन ही जीवन की आवश्यकताओं का भोग करने का असली मार्ग है। वैराग्य तथा लोक-व्यवहार के ऐसे ज्ञान के अभाव में तथाकथित मानव सभ्यता खाने, पीने तथा भोगविलास करने वाले पशु-समाज के तुल्य है। भगवान् अपनी इच्छानुसार स्वतंत्र रूप से कार्य कर रहे थे; फिर भी उन्होंने अपने व्यावहारिक दृष्टान्त द्वारा ऐसा जीवन बिताने की शिक्षा दी जो वैराग्य तथा ज्ञान के सिद्धान्तों के विरुद्ध न हो। ज्ञान तथा वैराग्य की प्राप्ति जीवन की वास्तविक पूर्णता है जैसाकि सांख्य दर्शन में विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया गया है। ज्ञान का अर्थ होता है यह जानना कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य संसार के सारे कष्टों को समाप्त करना है और शारीरिक आवश्यकताओं की नियमित रूप से पूर्ति करने के बावजूद मनुष्य का ऐसे पाशविक जीवन से विरक्त होना है। शरीर की माँगों की पूर्ति करना पाशविक जीवन है और आत्मा के उद्देश्य की पूर्ति करना मानव उद्देश्य है।

स्निग्धस्मित्वावलोकेन वाचा पीयूषकल्पया ।

चरित्रेणानवद्येन श्रीनिकेतेन चात्मना ॥ २० ॥

शब्दार्थ

स्निग्ध—सौम्य; स्मित-अवलोकेन—मृदुहँसी से युक्त चितवन द्वारा; वाचा—शब्दों से; पीयूष-कल्पया—अमृत के तुल्य; चरित्रेण—चरित्र से; अनवद्येन—दोषरहित; श्री—लक्ष्मी; निकेतेन—धाम; च—तथा; आत्मना—अपने दिव्य शरीर से।

वे वहाँ पर लक्ष्मी देवी के निवास, अपने दिव्य शरीर, में सदा की तरह के अपने सौम्य तथा मधुर मुसकान युक्त मुख, अपने अमृतमय वचनों तथा अपने निष्कलक चरित्र से युक्त रह रहे थे।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बतलाया गया है कि सांख्य दर्शन के सत्यों में स्थित भगवान् कृष्ण सभी प्रकार के विषयों से विरक्त हैं। प्रस्तुत श्लोक में यह बतलाया गया है कि वे लक्ष्मीदेवी के निवास हैं। ये दोनों बातें तनिक भी परस्पर विरोधी नहीं हैं। भगवान् कृष्ण बहिरंगा प्रकृति की विविधता से विरक्त हैं, किन्तु वे आध्यात्मिक प्रकृति या अपनी अन्तरंगा शक्ति का नित्य, आनन्दमय भोग करते हैं। जो अल्पज्ञ हैं, वे बहिरंगा तथा अन्तरंगा शक्तियों के इस अन्तर को नहीं समझ सकते। *भगवद्गीता* में अन्तरंगा शक्ति को *परा प्रकृति* कहा गया है। *विष्णु पुराण* में भी विष्णु की अन्तरंगा शक्ति को *परा शक्ति* कहा गया है। भगवान् कभी भी पराशक्ति की संगति से विलग नहीं होते। इस पराशक्ति का तथा इसकी

अभिव्यक्तियों का वर्णन *ब्रह्म-संहिता* (५.३७) में *आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिः* के रूप में हुआ है। भगवान् नित्य आनन्दमय हैं और ऐसे दिव्य आनन्द से प्राप्त होने वाले आस्वाद से ज्ञात हैं। बहिरंगा शक्ति की विविधता के निषेध के लिए आवश्यक नहीं कि आध्यात्मिक जगत के सकारात्मक दिव्य आनन्द का निषेध किया जाय। अतएव भगवान् की सौम्यता, उनकी मुसकान, उनका चरित्र तथा उनसे सम्बद्ध सारी बातें दिव्य हैं। अन्तरंगा शक्ति की ऐसी अभिव्यक्तियाँ वास्तविक हैं जिनका भौतिक प्रतिबिम्ब (छाया) एकमात्र क्षणिक स्वरूप है, जिससे हर ज्ञानवान व्यक्ति को विरक्त रहना चाहिए।

इमं लोकममुं चैव रमयन्सुतरां यदून् ।

रेमे क्षणदया दत्तक्षणस्त्रीक्षणसौहृदः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

इमम्—यह; लोकम्—पृथ्वी; अमुम्—तथा अन्य लोक; च—भी; एव—निश्चय ही; रमयन्—मनोहर; सुतराम्—विशेष रूप से; यदून्—यदुओं को; रेमे—आनन्द लिया; क्षणदया—रात में; दत्त—प्रदत्त; क्षण—विश्राम; स्त्री—स्त्रियों के साथ; क्षण—दाम्पत्य प्रेम; सौहृदः—मैत्री।

भगवान् ने इस लोक में तथा अन्य लोकों में (उच्च लोकों में), विशेष रूप से यदुवंश की संगति में अपनी लीलाओं का आनन्द लिया। रात्रि में विश्राम के समय उन्होंने अपनी पत्नियों के साथ दाम्पत्य प्रेम की मैत्री का आनन्द लिया।

तात्पर्य : भगवान् ने अपने शुद्ध भक्तों के साथ इस जगत में आनन्द प्राप्त किया। यद्यपि वे भगवान् हैं और समस्त भौतिक आसक्ति से परे हैं, किन्तु फिर भी उन्होंने पृथ्वी पर अपने शुद्ध भक्तों के साथ तथा उन देवताओं के साथ जो समस्त भौतिक कार्यकलापों की व्यवस्था में शक्तिप्रदत्त निर्देशकों की भाँति स्वर्ग में उनकी सेवा में लगे रहते हैं, अत्यधिक अनुरक्ति प्रदर्शित की। उन्होंने अपने पारिवारिक जनों, यदुओं, के प्रति तथा उन सोलह हजार पत्नियों के प्रति जिन्हें रात्रि में विश्राम के समय भगवान् से मिलने का सुअवसर प्राप्त होता था विशेष आसक्ति प्रदर्शित की। भगवान् की ये सारी आसक्तियाँ उनकी अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं जिनकी बहिरंगा शक्ति केवल छायास्वरूप है। *स्कन्द-पुराण* के *प्रभास-खण्ड* में शिव तथा गौरी के मध्य हुई वार्ताओं से उनकी अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्तियों की पुष्टि होती है। भगवान् द्वारा सोलह हजार गोपियों से मिलने का उल्लेख हुआ है, यद्यपि भगवान् हंस (दिव्य) परमात्मा हैं और सारे जीवों के पालनकर्ता हैं। ये सोलह हजार गोपियाँ सोलह प्रकार की

अन्तरंगा शक्तियों का प्रदर्शन हैं। इसकी विशद व्याख्या दशम् स्कन्ध में की जाएगी। उसमें कहा गया है कि भगवान् कृष्ण चन्द्रमा के सदृश हैं और अन्तरंगा शक्ति रूपी गोपियाँ चन्द्रमा के चारों ओर के तारों के तुल्य हैं।

तस्यैवं रममाणस्य संवत्सरगणान्बहून् ।
गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; रममाणस्य—रमण करने वाले; संवत्सर—वर्षों; गणान्—अनेक; बहून्—कई; गृहमेधेषु—गृहस्थ जीवन में; योगेषु—यौन जीवन में; विरागः—विरक्ति; समजायत—जागृत हुई।

इस तरह भगवान् अनेकानेक वर्षों तक गृहस्थ जीवन में लगे रहे, किन्तु अन्त में नश्वर यौन जीवन से उनकी विरक्ति पूर्णतया प्रकट हुई।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कभी भी किसी प्रकार के भौतिक यौन जीवन में लिप्त नहीं होते, किन्तु जगद्गुरु के रूप में दूसरों को यह शिक्षा देने के लिए कि किस तरह गृहस्थ जीवन बिताना चाहिए वे स्वयं अनेकानेक वर्षों तक गृहस्थ बने रहे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि *समजायत* शब्द का अर्थ “पूर्णतया प्रकट किया” है। जब तक वे पृथ्वी पर उपस्थित रहे भगवान् ने अपने सारे कार्यों में विरक्ति प्रदर्शित की। इसका पूर्ण प्रदर्शन तब हुआ जब उन्होंने दृष्टान्त द्वारा यह शिक्षा देनी चाही कि मनुष्य को अपने सम्पूर्ण जीवनभर गृहस्थ जीवन में आसक्त नहीं रहना चाहिए। मनुष्य को स्वभावतः विरक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। भगवान् द्वारा गृहस्थ जीवन से विरक्ति यह नहीं सूचित करती कि उन्होंने अपने नित्य संगियों, दिव्य गोपियों से विरक्ति ले ली थी। किन्तु भगवान् प्रकृति के तीन गुणों के प्रति अपनी तथाकथित आसक्ति को समाप्त करना चाहते थे। वे अपने दिव्य संगियों यथा रुक्मिणी तथा लक्ष्मियों की सेवा से कभी भी विरक्त नहीं हो सकते जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.२९) में वर्णन हुआ है—*लक्ष्मीसहस्र शत सम्भ्रमसेव्यमानम्*।

दैवाधीनेषु कामेषु दैवाधीनः स्वयं पुमान् ।
को विश्रम्भेत योगेन योगेश्वरमनुव्रतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

दैव—अलौकिक; अधीनेषु—नियंत्रित होकर; कामेषु—इन्द्रिय भोग विलास में; दैव-अधीनः—अलौकिक शक्ति द्वारा नियंत्रित; स्वयम्—अपने आप; पुमान्—जीव; कः—जो भी; विश्रम्भत—श्रद्धा रख सकता हो; योगेन—भक्ति से; योगेश्वरम्—भगवान् में; अनुव्रतः—सेवा करते हुए।

प्रत्येक जीव एक अलौकिक शक्ति द्वारा नियंत्रित होता है और इस तरह उसका इन्द्रिय भोग भी उसी अलौकिक शक्ति के नियंत्रण में रहता है। इसलिए कृष्ण के दिव्य इन्द्रिय-कार्यकलापों में वही अपनी श्रद्धा टिका सकता है, जो भक्ति-मय सेवा करके भगवान् का भक्त बन चुका हो।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् के दिव्य जन्म तथा कर्मों को कोई नहीं समझ सकता है। इसी तथ्य की यहाँ पर पुष्टि हुई है—भगवान् की भक्ति द्वारा प्रबुद्ध व्यक्ति ही भगवान् के कार्यों तथा अलौकिक शक्ति द्वारा नियंत्रित अन्य लोगों के कार्यों के अन्तर को समझ सकता है। इस भौतिक ब्रह्माण्ड में दृष्टिगत समस्त पशुओं, मनुष्यों तथा देवताओं का इन्द्रिय भोगविलास एक अलौकिक शक्ति द्वारा नियंत्रित होता है, जो प्रकृति या दैवी माया कहलाती है। कोई भी व्यक्ति इन्द्रिय भोग-विलास प्राप्त करने में स्वतंत्र नहीं है और इस जगत में हर व्यक्ति इन्द्रिय भोग-विलास के पीछे पड़ा रहता है। ऐसे लोग जो स्वयं ही अलौकिक शक्ति के नियंत्रण में होते हैं इस पर विश्वास नहीं कर सकते कि इन्द्रिय भोग विलास के मामले में भगवान् कृष्ण अपने से परे किसी अन्य नियंत्रण के अधीन नहीं होते। वे यह समझ ही नहीं पाते कि भगवान् की इन्द्रियाँ दिव्य हैं। *ब्रह्म-संहिता* में भगवान् की इन्द्रियों को सर्वशक्तिमान बतलाया गया है—अर्थात् वे किसी एक इन्द्रिय से अन्य इन्द्रिय के कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। जिसका इन्द्रियाँ सीमित हैं उसे विश्वास ही नहीं होता कि भगवान् अपनी श्रवण की दिव्य शक्ति से भोजन कर सकते हैं और मात्र देखने से संभोग कर सकते हैं। नियंत्रित जीव अपने बद्ध जीवन में ऐसे इन्द्रिय कार्यों के विषय में स्वप्न तक नहीं देख सकता। किन्तु भक्तियोग के कार्यों से वह यह समझ सकता है कि भगवान् तथा उनके कार्य सदैव दिव्य हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में भगवान् कहते हैं—*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*—यदि कोई व्यक्ति भगवान् का शुद्ध भक्त नहीं है, तो वह भगवान् के कार्यों के एक अंश को भी नहीं जान सकता।

पुर्या कदाचित्क्रीडद्धिर्यदुभोजकुमारकैः ।

कोपिता मुनयः शेषुर्भगवन्मतकोविदाः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

पुर्याम्—द्वारका पुरी में; कदाचित्—एक बार; क्रीडद्धिः—क्रीड़ाओं द्वारा; यदु—यदुवंशी; भोज—भोज के वंशज; कुमारकैः—राजकुमारों द्वारा; कोपिताः—क्रुद्ध हुए; मुनयः—मुनियों ने; शेषुः—शाप दिया; भगवत्—भगवान् की; मत—इच्छा; कोविदाः—जानकार ।

एक बार यदुवंशी तथा भोजवंशी राजकुमारों की क्रीड़ाओं से महामुनिगण क्रुद्ध हो गये तो उन्होंने भगवान् की इच्छानुसार उन राजकुमारों को शाप दे दिया ।

तात्पर्य : भगवान् के वे संगी जो कि यदु तथा भोज वंशों के राजकुमारों की भूमिका निभा रहे थे सामान्य जीव न थे। ऐसा सम्भव नहीं कि वे किसी सन्त पुरुष या मुनि का अपमान करते या मुनिगण जो कि भगवान् के शुद्ध भक्त थे पवित्र यदु या भोज वंशों में उत्पन्न राजकुमारों की किसी प्रकार की क्रीड़ा पर क्रुद्ध होते, क्योंकि स्वयं भगवान् इन्हीं के वंशज के रूप में अवतरित हुए थे। मुनियों द्वारा राजकुमारों का शापित होना क्रोध-प्रदर्शन के लिए भगवान् की एक दिव्य लीला थी। राजकुमारों को इसलिए शाप दिया गया था कि लोग जान सकें कि भगवान् के वे वंशज भी भगवान् के महान् भक्तों के कोपभाजन हो सकते हैं, जिन्हें प्रकृति के किसी भी कार्य द्वारा कभी भी विनष्ट नहीं किया जा सकता था। इसलिए मनुष्य को बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए कि वह भगवद्भक्त के चरणों पर कोई अपराध न करे ।

ततः कतिपयैर्मासैर्वृष्णिभोजान्धकादयः ।

ययुः प्रभासं संहृष्टा रथैर्देवविमोहिताः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; कतिपयैः—कुछेक; मासैः—मास बिता कर; वृष्णि—वृष्णि के वंशज; भोज—भोज के वंशज; अन्धक-आदयः—अन्धक के पुत्र इत्यादि; ययुः—गये; प्रभासम्—प्रभास नामक तीर्थस्थान; संहृष्टाः—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; रथैः—अपने अपने रथों पर; देव—कृष्ण द्वारा; विमोहिताः—मोहग्रस्त ।

कुछेक महीने बीत गये तब कृष्ण द्वारा विमोहित हुए समस्त वृष्णि, भोज तथा अन्धक वंशी, जो कि देवताओं के अवतार थे, प्रभास गये। किन्तु जो भगवान् के नित्य भक्त थे वे द्वारका में ही रहते रहे।

तत्र स्नात्वा पितृन्देवानृषींश्चैव तदम्भसा ।

तर्पयित्वाथ विप्रेभ्यो गावो बहुगुणा ददुः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ पर; स्नात्वा—स्नान करके; पितृन्—पितरों को; देवान्—देवताओं को; ऋषीन्—ऋषियों को; च—भी; एव—निश्चय ही; तत्—उसके; अम्भसा—जल से; तर्पयित्वा—प्रसन्न करके; अथ—तत्पश्चात्; विप्रेभ्यः—ब्राह्मणों को; गावः—गौवें; बहु-गुणाः—अत्यन्त उपयोगी; ददुः—दान में दीं।

वहाँ पहुँचकर उन सबों ने स्नान किया और उस तीर्थ स्थान के जल से पितरों, देवताओं तथा ऋषियों का तर्पण करके उन्हें तुष्ट किया। उन्होंने राजकीय दान में ब्राह्मणों को गौवें दीं।

तात्पर्य : भगवद्भक्तों में कई विभाग हैं जिनमें *नित्यसिद्ध* तथा *साधनसिद्ध* मुख्य हैं। *नित्यसिद्ध* भक्त कभी भी भौतिक वातावरण के क्षेत्र में नीचे नहीं गिरते भले ही कभी-कभी भगवान् का मिशन पूरा करने के लिए उन्हें भौतिक धरातल पर क्यों न आना पड़ता हो। *साधनसिद्ध* भक्त बद्धात्माओं में से चुने जाते हैं। *साधन* भक्तों में से कुछ मिश्रित तथा कुछ शुद्ध भक्त होते हैं। मिश्रित भक्त कभी-कभी सकाम कर्मों के प्रति उल्लास प्रदर्शित करते हैं और दार्शनिक चिन्तन में लगे रहते हैं। शुद्ध भक्त इन समस्त मिश्रणों से स्वतंत्र होते हैं और भगवान् की सेवा में पूर्णतया लीन रहते हैं, चाहे वे कहीं भी हों और किसी भी अवस्था में स्थित हों। भगवान् के शुद्ध भक्त पवित्र तीर्थस्थानों में जाने के लिए भगवान् की सेवा को ताक पर नहीं रखते। आधुनिक काल के महान् भगवद्भक्त श्रीनरोत्तम दास ठाकुर का गीत है, “तीर्थस्थानों में जाना मन का दूसरा मोह है, क्योंकि किसी भी स्थान पर की गई भगवान् की सेवा आध्यात्मिक सिद्धि की चरम परिणति है।”

उन भक्तों के लिए जो भगवान् की प्रेमाभक्ति से पूरी तरह तुष्ट होते हैं, विभिन्न तीर्थस्थलों में जाने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु जो लोग उतने बड़े-चढ़े नहीं हैं उन्हें तीर्थस्थानों में जाने तथा अनुष्ठान सम्पन्न करने के नियत कार्य करने होते हैं। यदुवंश के जो राजकुमार प्रभास गये उन्होंने तीर्थस्थान में सम्पन्न किये जाने वाले सारे कर्तव्यों को पूरा किया और अपने-अपने पितरों तथा अन्यो को अपने पुण्यकर्मों की भेंट चढ़ाई।

नियमतः हर मनुष्य ईश्वर, देवताओं, महान् ऋषियों, अन्य जीवों, सामान्य-जनों, पूर्वजों इत्यादि का ऋणी होता है, क्योंकि वह उनसे विविध प्रकार का योगदान प्राप्त करता है। अतः हर व्यक्ति को कृतज्ञता का ऋण चुकाना होता है। जो यदुगण प्रभास तीर्थस्थल गये उन्होंने राजसी दान में भूमि, स्वर्ण तथा अच्छी तरह पाली-पोसी गौवें भेंट करके अपना कर्तव्य निभाया जैसाकि अगले श्लोक में बतलाया गया है।

हिरण्यं रजतं शय्यां वासांस्यजिनकम्बलान् ।
यानं रथानिभान्कन्या धरां वृत्तिकरीमपि ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

हिरण्यम्—सोना; रजतम्—रजत; शय्याम्—बिस्तर; वासांसि—वस्त्र; अजिन—आसन के लिए पशुचर्म; कम्बलान्—कम्बल; यानम्—घोड़े; रथान्—रथ; इभान्—हाथी; कन्याः—लड़कियाँ; धराम्—भूमि; वृत्ति-करीम्—आजीविका प्रदान करने के लिए; अपि—भी ।

ब्राह्मणों को दान में न केवल सुपोषित गौवें दी गई, अपितु उन्हें सोना, चाँदी, बिस्तर, वस्त्र, पशुचर्म के आसन, कम्बल, घोड़े, हाथी, कन्याएँ तथा आजीविका के लिए पर्याप्त भूमि भी दी गई ।

तात्पर्य : ये सारे दान उन ब्राह्मणों के लिए थे जिनके जीवन आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों दृष्टियों से समाज-कल्याण में पूरी तरह लगे होते थे। ब्राह्मण-गण अपनी सेवाएँ वेतनभोगी सेवकों की तरह नहीं प्रदान कर रहे थे, अपितु समाज उन्हें सारी आवश्यकताएँ प्रदान करता था। कुछ ब्राह्मण, जिनका विवाह नहीं हो पाता था, उन्हें कन्याएँ दी जाती थीं। अतएव ब्राह्मणों के समक्ष कोई आर्थिक समस्या नहीं थी। क्षत्रिय राजा तथा धनी व्यापारी लोग उनको सभी आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करते थे और ब्राह्मण-जन बदले में समाज के उत्थान के प्रति पूर्णतया समर्पित थे। विभिन्न जातियों के बीच सामाजिक सहयोग का यही मार्ग था। जब ब्राह्मण वर्ग या जाति, जिसमें ब्राह्मण योग्यताएँ नहीं थीं, समाज द्वारा पोषित होकर धीरे-धीरे आरामतलब बन गई, तो वे पतित होकर ब्रह्मबन्धु अर्थात् अयोग्य ब्राह्मण बन गये। इसी तरह समाज के अन्य सदस्य प्रगतिशील जीवन के सामाजिक मानदण्ड से क्रमशः नीचे गिर गये। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जाति प्रथा भगवान् द्वारा निर्मित है और समाज के प्रति किये गये कार्य के गुण के अनुसार व्यवस्थित है, जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में नहीं जैसाकि वर्तमान पतित समाज में झूठे ही दावा किया जाता है।

अन्नं चोरुरसं तेभ्यो दत्त्वा भगवदर्पणम् ।
गोविप्रार्थासवः शूराः प्रणेमुर्भुवि मूर्धभिः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अन्नम्—खाद्यवस्तुएँ; च—भी; ऊरु-रसम्—अत्यन्त स्वादिष्ट; तेभ्यः—ब्राह्मणों को; दत्त्वा—देकर; भगवत्-अर्पणम्—जिन्हें सर्वप्रथम भगवान् को अर्पित किया गया; गो—गौवें; विप्र—ब्राह्मण; अर्थ—प्रयोजन, उद्देश्य; असवः—जीवन का प्रयोजन; शूराः—सारे बहादुर क्षत्रिय; प्रणेमुः—प्रणाम किया; भुवि—भूमि छूकर; मूर्धभिः—अपने सिरों से ।

तत्पश्चात् उन्होंने सर्वप्रथम भगवान् को अर्पित किया गया अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन उन ब्राह्मणों को भेंट किया और तब अपने सिरों से भूमि का स्पर्श करते हुए उन्हें सादर नमस्कार किया। वे गौवों तथा ब्राह्मणों की रक्षा करते हुए भलीभाँति रहने लगे।

तात्पर्य : प्रभास तीर्थस्थल में यदुवंशियों द्वारा प्रदर्शित आचरण सुसंस्कृत तथा मानवसिद्धि के सर्वथा अनुरूप था। मानव जीवन की सिद्धि सभ्यता के निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों द्वारा प्राप्त की जाती है। ये हैं; गौवों की रक्षा करना, ब्राह्मण संस्कृति को बनाये रखना तथा सर्वोपरि है भगवद्भक्त बनना। भगवद्भक्त बने बिना कोई मनुष्य अपने मानव जीवन को पूर्ण नहीं बना सकता। मानव जीवन की पूर्णता आध्यात्मिक जगत तक ऊपर उठना है जहाँ न जन्म है, न मृत्यु है, न रोग, न वृद्धावस्था। मानव जीवन का परम उद्देश्य यही सर्वोच्च सिद्धि है। इस उद्देश्य के बिना तथाकथित सुख सुविधाओं में कोई कितनी ही उन्नति क्यों न करे, उससे मनुष्य जीवन की पराजय ही होती है।

ब्राह्मण तथा वैष्णवजन ऐसी कोई खाद्य वस्तु स्वीकार नहीं करते जो पहले से भगवान् को अर्पित न की जा चुकी हो। भगवान् को अर्पित भोज्य वस्तु भक्तों द्वारा भगवत्कृपा के रूप में स्वीकार की जाती है। आखिर, भगवान् ही सब प्रकार का भोज्य पदार्थ मनुष्यों तथा पशुओं को प्रदान करते हैं। मनुष्य को इस तथ्य के प्रति सचेत रहना चाहिए कि समस्त खाद्य पदार्थ, यथा अन्न, शाक, दूध, जल इत्यादि, जो कि जीवन की मुख्य आवश्यकताएँ हैं, भगवान् द्वारा मनुष्य को प्रदान की जाती हैं। उन्हें न तो किसी विज्ञानी द्वारा या भौतिकतावादी द्वारा मानवप्रयास से स्थापित की गई प्रयोगशाला या फैक्टरी में तैयार किया जा सकता है। बुद्धिमान श्रेणी के लोग ब्राह्मण कहलाते हैं और जिन्होंने परब्रह्म के परम साकार रूप में उनका साक्षात्कार किया है वे वैष्णव कहलाते हैं। किन्तु दोनों ही यज्ञ के उच्छिष्ट को भोज्य पदार्थ के रूप में ग्रहण करते हैं। यज्ञ अन्ततः यज्ञ पुरुष विष्णु को तुष्ट करने के निमित्त हैं। *भगवद्गीता* (३.१३) में कहा गया है कि जो यज्ञ-उच्छिष्ट को भोज्य पदार्थ के रूप में ग्रहण करता है, वह समस्त पापों से छूट जाता है और जो अपने शरीर के पालन-पोषण के लिए भोजन बनाता है, वह सभी तरह के कष्टप्रद पाप ग्रहण करता है। प्रभास तीर्थस्थान में प्रामाणिक ब्राह्मणों को भेंट देने के लिए यदुओं ने जो भोज्य पदार्थ तैयार कराये थे वे सभी भगवान् विष्णु को अर्पित किये गये थे। यदुओं ने अपने सिरों से भूमि का स्पर्श करते हुए सादर नमस्कार किया। वैदिक संस्कृति में चाहे यदुगण हों या

अन्य कोई प्रबुद्ध परिवार, उन्हें विभिन्न वर्णों के मध्य सेवा के पूर्ण सहयोग द्वारा मानव-सिद्धि प्राप्ति के लिए प्रशिक्षण दिया जाता है।

उरु-रसम् शब्द भी यहाँ पर महत्त्वपूर्ण है। अन्न, शाक तथा दूध को मिलाकर सैकड़ों प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन तैयार किये जा सकते हैं। ऐसे समस्त व्यञ्जन सात्विक होते हैं, अतएव इन्हें भगवान् को अर्पित किया जा सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.१३) में कहा गया है कि भगवान् केवल फल, फूल, पत्ती तथा तरल पदार्थों से तैयार भोज्य पदार्थों को ही स्वीकार करते हैं, बशर्ते कि वे पूर्ण भक्ति के साथ अर्पित किये जाँय। भक्ति ही भगवान् को प्रामाणिक भेंट की एकमात्र कसौटी है। भगवान् आश्वासन देते हैं कि भक्तों द्वारा अर्पित ऐसे भोज्य पदार्थ वे अवश्य खाते हैं। इस तरह सभी दृष्टियों से निर्णय करने पर यदुगण पूर्णरूपेण प्रशिक्षित सभ्य पुरुष थे और ब्राह्मण मुनियों द्वारा उनका शापित होना एकमात्र भगवान् की इच्छा के फलस्वरूप था। यह समूची घटना समस्त सम्बद्ध लोगों के लिए चेतावनी थी कि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के साथ किसी को अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत “वृन्दावन से बाहर भगवान् की लीलाएँ” नामक तीसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।